

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

डॉ. पूनम

भारतीय-संस्कृति, परम्परा, संस्कार, शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान और नैतिक मूल्यों का मूल आधार अन्तिम रूप से वेदों को स्वीकार किया जाता है। चारों वेदों ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान उस सर्वशक्तिमान् परमकारुणिक परमपिता परमात्मा ने सृष्टि के आदि में अत्यन्त पवित्र आत्मा अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा नामक ऋषियों के हृदय में दिया। सारा विश्व ऋग्वेद को प्रथम पुस्तक के रूप में स्वीकार करता है। ज्ञान, कर्म और उपासना के लिये प्रसिद्ध ये वेद-ग्रन्थ विश्व की सभ्यता और संस्कृति का मूल हैं।

प्राचीन ऋषि-महर्षि आन्तरिक और बाह्यशुद्धता से भलीभाँति परिचित थे। वे जानते थे कि शरीर के भीतर और बाहर से शुद्धि ही उनके दीर्घ-जीवन का आधार हो सकता है। इसके बिना जीवन अल्पकालिक होगा। धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष की प्राप्ति स्वस्थ शरीर के द्वारा ही हो सकती है। वे पृथिवी-जल-अग्नि-वायु और आकाश की सत्ता और इनके गुणों के बारे में भी वर्तमान विज्ञान से अधिक ज्ञानवान् थे। वे वैदिक जीवन जीते थे और जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति करते थे। इन्हीं तत्त्वों के विज्ञान के आधार पर उन्होंने अग्नि-तत्त्व के सार को समझा और यज्ञ की परिकल्पना की। उनकी यज्ञ की परिकल्पना उनके सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक और दीर्घजीवन का मूलमन्त्र थी।

इन महर्षियों द्वारा विनिर्मित पादप-विज्ञान, जलविज्ञान, रसायनविज्ञान, औषध-विज्ञान की सहायता से वैदिक-मन्त्रों के विनियोग से अग्नि-तत्त्व के साथ ऐसा सामञ्जस्य स्थापित किया गया जो न केवल शरीर को आरोग्य करता था, विषाणुरहित करता था; अपितु वातावरण में विद्यमान हानिकारक तत्त्वों को नष्ट करके लाभकारी तत्त्वों से वातावरण को परिपूर्ण करता था। इन्होंने इसे यज्ञ का नाम प्रदान किया, जिसे लोग हवन और होम के नाम से भी जानते हैं।

इस यज्ञ में प्रयोग की जाने वाली प्रत्येक वस्तु, पदार्थ, सामग्री शरीर और वातावरण दोनों को ही परिपुष्ट करती है। यज्ञ में प्रयोग होने वाली वस्तु पूर्णतया वैज्ञानिक है। चाहे वह यज्ञवेदी हो, यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र, यज्ञसमिधायें, यज्ञसामग्री सभी वातावरण की शुद्धता के लिये ही प्रयोग की जाती हैं। अथर्ववेद में यज्ञ का महत्त्व प्रतिपादित करते हुये कहा गया है कि- हे ब्रह्मणस्पते ! उठ खड़ा हो, यज्ञ कर।^१ अन्य उत्तमपुरुषों को यज्ञीयभावना से अवगत करा तथा इस मार्ग का अवलम्बन करते हुये आयु, प्राण, प्रजा, पशु तथा यजमान की कीर्ति को बढ़ा। सृष्टि-कर्त्ता ने स्वयम् एक शाश्वत यज्ञ का

^१ अथर्ववेद (९.६३.१)

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

आयोजन कर रखा है। वह प्रभु भी यज्ञ है। (यजु० ३१.७) और होता (ऋ०१.१.१ एवं १०.८१.१) भी है। शतपथब्राह्मण ने भी “यज्ञो वै: विष्णुः” (१.१.८.८) कहा है। ‘यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म’ (शत० १.७.१.५) तथा छान्दोग्योपनिषद् ने यज्ञ, अध्ययन और दान को धर्म का प्रथम स्कन्ध माना है। “त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञाध्ययनदानमिति प्रथमः” (छान्दो० २.२३.१) मनुमहाराज ने भी पञ्चमहायज्ञों का विधान लिखा है-

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा। नृयज्ञं पितृयज्ञञ्च यथाशक्ति न हापयेत् ॥^१

हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन-मन्दिरों में कहीं घी का दीपक, कहीं तेल का तथा कहीं मोमबत्ती, कहीं अगरबत्ती इसी यज्ञ का बदला हुआ स्वरूप है। मन्दिरों के मध्य में मूर्तिस्थापना पूर्वकाल में यज्ञकुण्ड का ही परिवर्तित स्वरूप है। इन सबके मूल में कहीं न कहीं यज्ञ की ही भावना प्रतीत होती है।

यज्ञाग्नि में डाले जाने वाले पदार्थों का फल यह होगा कि यज्ञ-धूम से बादल प्रसन्न होकर जल बरसायेंगे, अकाल नहीं रहेगा, अधिक अन्न होगा, अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि होगी, शूरवीरता आयेगी, जनता शुभ कर्म करने लगेगी, वर्ण-आश्रमी जो कायर बन रहे हैं, उन्हें जब हवन की वायु लगेगी तो वे शेरों की तरह शक्तिशाली होंगे। उनका वातावरण शुद्ध होगा। शुद्धवातावरण से सन्तान उत्तम होगी। उत्तम सन्तान से सामाजिक सुख-शान्ति, भ्रातृभाव, राष्ट्रेन्नति होगी।

महर्षि दयानन्द सरस्वती बार-बार यज्ञ-स्थान, यज्ञकुण्ड, यज्ञपात्र, यज्ञसमिधा और यज्ञ सामग्री के अत्यन्त शुद्ध होने की बात कहते हैं। वे मानते हैं कि इनके शुद्ध होने से ही यज्ञ की पूर्ण-प्रक्रिया शुद्ध हो सकेगी तथा यज्ञ के सभी लाभ समाज को मिल सकेंगे।

यज्ञचिकित्सा- यज्ञ-चिकित्सा इतनी सरल और उपयोगी है कि उसके आधार पर मारक और पोषक दोनों ही तत्त्वों को शरीर में आसानी से पहुँचाया जा सकता है। यँ तो यज्ञ-विज्ञान के अनेक पक्ष हैं, उनमें एक रोगोपचार भी है। मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि के साथ ही शारीरिक रोगों के निवारण में भी इससे ठोस सहायता मिलती है। औषधि-उपचार में शरीर के विभिन्न अवयवों तक पदार्थ पहुँचाने का माध्यम रक्त है। रक्त यदि दूषित, निर्बल हो तो वह प्रेषित उपचार, पदार्थ का ठीक तरह परिवहन नहीं कर सकता। फिर यह कठिनाई और भी है कि रक्त में रहने वाले स्वास्थ्य-प्रहरी श्वेत—कण किसी विजातीय पदार्थ को सहन नहीं करते और उससे लड़ने-मरने को तैयार रहते हैं। औषधि जब तक रोग-कीटाणुओं पर आक्रमण करने की स्थिति तक पहुँचती; उसे इन स्वास्थ्य-प्रहरियों से ही महाभारत करना पड़ता है।^२

बीमार पर आक्रमण होने पर प्रयुक्त औषधि और स्वास्थ्य-कण ही आपस में भिड़ जाते हैं। पेट की पाचनक्रिया रक्त में उन्हीं पदार्थों को सम्मिलित होने देती है, जो शरीर-संरचना के साथ ताल-मेल खाते हैं। इसके अतिरिक्त जो बच जाता है वह विजातीय कहा जाता है और उसे मल, मूत्र, स्वेद, कफ

^१ मनु० (२.१०)

^२ यज्ञचिकित्सा, डॉ. नवनीत, पृ.सं. १-२

आदि के द्वारा निकाल बाहर किया जाता है। इस पद्धति को देखते हुए यह भी एक अति जटिल कार्य है कि औषधियों में रहने वाले रसायन किस प्रकार विषाणुओं तक पहुँचें और किस तरह वहाँ जाकर अपना निवारक उपक्रम आरम्भ करके उसे सफलता के स्तर तक पहुँचायें।

यज्ञ-प्रक्रिया को चिकित्सा प्रयोजन के लिए प्रयुक्त करने पर हमें कठिनाई का हल सहज ही सम्भव हो सकता है। औषधि को पेट में पचाकर, रक्त में मिलाकर, श्वेत-प्रहरियों से लड़ने के उपरान्त पीडित स्थान तक पहुँचने की लम्बी मञ्जिल पार नहीं करनी पड़ती, वरन् इन सारे जंजाल से बचकर, साँस द्वारा अभीष्ट स्थान तक पहुँचने का एक नया रास्ता मिल जाता है। शरीरशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि मात्र रक्त ही कोषों की खुराक पूरी नहीं करता वरन् साँस द्वारा भी शरीर में आहार पहुँचाया जाता है और वह इतना महत्त्वपूर्ण होता है कि उसकी गरिमा मुँह द्वारा खाये और पेट द्वारा पचाए गये आहार की तुलना में किसी भी प्रकार कम नहीं होती। रक्त की भाँति प्राणवायु भी ऑक्सिजन के रूप में समस्त शरीर में परिभ्रमण करती है। पोषण पहुँचाने और गन्दगी बहारने में उसका बहुत बड़ा हाथ है। दृश्य-रूप से जो कार्य पाचन और रक्ताभिशरण-क्रिया द्वारा भी सम्पन्न होता है। यह दोनों ही पद्धतियाँ मिलकर दो पहियों की तरह जीवन-रथ को गतिशील बनाये रहती हैं।

स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारण की आवश्यकता को पूरा करने के लिए श्वासोच्छ्वास-प्रक्रिया को अवलम्बन बनाने पर उससे कहीं अधिक लाभ उठाया जा सकता है, जो रक्ताभिशरण-पद्धति से आमतौर पर काम में लाया जाता है। यह कार्य यज्ञ-चिकित्सा द्वारा सम्पन्न होता है। इस माध्यम से न केवल विषाणुओं से सफलतापूर्वक सङ्घर्ष सम्भव हो सकता है, वरन् पोषण की आवश्यकता भी पूरी हो सकती है।

यज्ञ द्वारा वायुभूत बनाई गई औषधियाँ विषाणुओं से सूक्ष्म होने की विशेषता के कारण उन पर आक्रमण करके उन्हें सरलतापूर्वक परास्त कर सकती हैं। पाचन, परिवहन और प्रहरियों से उलझने जैसे झञ्झट मार्ग में नहीं हैं और न विलय का अवरोध ही है। साँस द्वारा अभीष्ट पदार्थ को शरीर के अन्तरङ्ग किसी भी अङ्ग, अवयव तक आसानी से पहुँचाया जा सकता है।

विषाणुओं का मारण जितना आवश्यक है उतना ही स्वस्थ कोशिकाओं में समर्थता की अभिवृद्धि भी आवश्यक है। अस्वस्थता का एकमात्र कारण विषाणुओं का आक्रमण ही नहीं होता, दूसरा अर्थ यह भी है कि सामान्य जीवाणुओं की समर्थता और स्वास्थ्य-संरक्षक श्वेत-कणों की प्रखरता गड़बड़ा जाती है। इसलिए वे रोगों के प्रवेश को रोकने और प्रविष्ट को निरस्त करने में सफल नहीं हो पाते। यदि जीवनी-शुद्धि की न्यूनता न हो तो न विषाणुओं का शरीर के सुदृढ़ दुर्ग में सहज ही प्रवेश हो सकता है और न प्रवेश करने वालों को देर तक ठहरने की सुविधा ही मिल सकती है। दुर्बलता, क्षीणता यदि बढ़ती जाये तो आवश्यक नहीं कि बाहर से ही रोग प्रवेश करें। निरन्तर टूटते रहने वाले अपने ही जीवकोषों की लाशें बाहर ढोकर फेंकी न जाने पर स्वतः सड़ने लगती हैं और उन्हींका स्वरूप विषाणुओं के रूप में प्रकट होता है।

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

गहन अनुसन्धानों के कारण अब यह मान्यता निराधार सिद्ध हो चुकी है कि विषाणु कहीं बाहर से आते हैं और उसके कारण मनुष्य बीमार पड़ता है। बाहर तो हवा, धूल, पानी और खाद्य पदार्थों में सर्वत्र कितनी विषाक्तता भरी पड़ी है। शरीर को शरीर न छूए यह तो सम्भव है, पर नाक से निकली हुई साँस का एक दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाने पर प्रतिबन्ध कैसे लगाया जा सकता है ? इस दृष्टि से तो किसी भी व्यक्ति का स्वस्थ रह पाना सम्भव नहीं होता क्योंकि सभी एक ही वायुमण्डल में श्वास लेते हैं और हर किसी के आस-पास कोई न कोई बीमार व्यक्ति रहता है। रोगों की उत्पत्ति बाहर के विषाणुओं से ही नहीं होती, अपितु शरीर में निरन्तर उत्पन्न होते रहने वाला मल ठीक तरह से बाहर नहीं निकल पाने पर उसीसे विषाणु उत्पन्न होते जाते हैं।

इस नये संशोधन के साथ रोगोपचार का एक पक्ष जहाँ विषाणुओं को मारना है वहीं दुर्बलता को दूर कर सफलता का परिपोषण करना भी है। आधुनिक चिकित्सा-पद्धति का सारा ध्यान संहार-उपचार पर ही केन्द्रित रहता है। एक एकाङ्गीपन जब तक दूर नहीं किया जायगा तब तक चिकित्सा-प्रक्रिया अधूरी ही बनी रहेगी।

यज्ञचिकित्सा में ये दोनों ही विशेषतायें विद्यमान हैं। उसके माध्यम से उपयोगी रासायनिक पदार्थों को इतना सूक्ष्म बना दिया जाता है कि वे अपने-अपने उपयुक्त प्रयोजनों को पूरा कर सकें। अणुओं में पाया जाने वाला चुम्बकत्व अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए वातावरण में से अभीष्ट तत्त्व अनायास ही ग्रहण करता रहता है। यज्ञ-प्रक्रिया के सहारे वायुभूत रासायनिक पदार्थ शरीर के समस्त भीतरी अवयवों में अनायास ही जा पहुँचते हैं और स्थानीय जीवाणुओं की आवश्यकता पूरी करते हैं। पेड़ आकाश में परिभ्रमण करने वाले बादलों को अपनी ओर खींचते हैं। सशक्त वायुभूत रसायन जब शरीर के भीतर पहुँचता है तो वहाँ की आवश्यकता सहज ही पूरी होने लगती है।

प्रकृति एक ओर तो वस्तुओं का परिवर्तन करने के लिए विनाश-व्यवस्था चलाती है और दूसरी ओर अनावश्यक क्षरण रोकने और क्षतिपूर्ति के साधन भी जुटाती है। इसी सन्तुलन के आधार पर सृष्टि-क्रम चल रहा है, अन्यथा विनाश या विकास में से एक के अत्यधिक उग्र हो जाने पर एकाङ्गी स्थिति बन जाती है और असन्तुलन की अराजकता दिखाई देती है। रोगीय कीट जिस प्रकार स्वस्थ जीवाणुओं पर आक्रमण करते हैं, उसी प्रकार उन्हें भी नियन्त्रित करने के लिए वातावरण में आवश्यक तत्त्व बने रहते हैं। यज्ञ द्वारा उत्पन्न विशेष गैसों में यह विशेषता रहती है कि वे रोगकीटकों पर नभ-सेना की तरह बरस पड़ें। रक्त के श्वेतकण जहाँ भूमिगत लड़ाई लड़ते और आमने-सामने की गुत्थम-गुत्था करते हैं, वहाँ यहाँ की वायु, नभ-मार्ग से बम गिराने की तरह शत्रुसेना को नष्ट करती है। यह उपचार प्राकृतिक-परम्परा के अनुसार स्वतः ही सम्पन्न होता रहता है।

गर्मी के दिनों में सूखी धरती की प्यास शीघ्र वर्षाऋतु को घसीट लाती है। जिस साल गर्मी कम पड़ती है उस साल वर्षा भी कम होती है। यह प्रकृति-चक्र है। बच्चा रोकर माता का ध्यान आकर्षित करता है और उससे अपनी क्षुधा के लिए पयपान का अनुदान प्राप्त कर लेता है। ठीक इसी प्रकार दुर्बलताग्रस्त जीवाणु अपने लिए समर्थ परिपोषण की याचना करते हैं। इसकी पूर्ति रासायनिक पदार्थ

करते हैं जो यज्ञप्रक्रिया द्वारा वायुभूत होकर जीवाणुओं के निकट जा पहुँचते हैं। इस प्रकार सफाई और परिपोषण के, ध्वंस और निर्माण के दोनों ही प्रयोजन यज्ञवायु के द्वारा पूरे होने लगते हैं और अस्वस्थता का बहुत हद तक समाधान होता है।

सूक्ष्म जगत् की क्षमताएँ विलक्षण हैं। लाख हस्त-कौशल अपनाया जाये अथवा कैसे भी यन्त्रों की सहायता ली जाये, पर फूलों से शहद पृथक् नहीं किया जा सकता। किन्तु यही काम मधुमक्खी अपनी विशिष्ट क्षमता द्वारा बड़ी आसानी से कर लेती है। आटे में चीनी मिली हो तो उसे अलग कर पाना सामान्यतः कठिन होता है, किन्तु चींटी उस सम्मिश्रण के रहते हुए भी चीनी के कणों को खाती रहती है और आटे वाला भाग छोड़ देती है। जीवाणुओं में यह विशेषता है कि यदि आस-पास के वातावरण में आवश्यक तत्त्व मौजूद हों तो वे पोषण एवं संरक्षण की आवश्यक सामग्री स्वयमेव खींच लेते हैं। सामान्य वायु जो साँस द्वारा ग्रहण की जाती है उसमें जीवन-सञ्चार बनाए रहने के कितने ही पदार्थ रहते हैं; आवश्यकता विशेष प्रकार की होती है। उसे विशेष मात्रा में विशेष पदार्थ चाहिए। इनकी पूर्ति यज्ञविधि द्वारा विनिर्मित विशिष्ट प्रकार की प्राणवायु द्वारा सम्पन्न होती है।

विषकीटकों को मारने के लिए अनेकानेक विशेषताओं से युक्त औषधियाँ निरन्तर बनती और बढ़ती चली जा रही हैं। यह सभी ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष स्पर्श के उपरान्त ही अपना प्रभाव आरम्भ करती हैं। इससे भी सरल तरीका यह है कि विषाणुमारक पदार्थों को वायुभूत बनाकर वहाँ पहुँचा दिया जाय, जहाँ संशोधन की आवश्यकता है।

यज्ञविज्ञान और इसकी समिधायें - महर्षि दयानन्द ने यज्ञ के लिये पलाश, शमी, पीपल, बड़, गूलर, आम, बिल्व आदि की समिधा का विधान किया है। इसमें भी चन्दन, पलाश और आम की लकड़ी उत्तम मानी गयी है। इंग्लैण्ड में शाहबलूत, अफगानिस्तान और विलोचिस्तान में बादाम की लकड़ी, जर्मन में लैवेण्डर तथा भारत और इटली में यूकेलिप्टस की लकड़ी समिधा के रूप में प्रयोग हो सकती है। महर्षि ने लिखा है कि लकड़ी सुविधापूर्वक जलने वाली हो। छालयुक्त लकड़ी अधिक गुणकारी होती है। लकड़ी मलिन, दूषित एवं कीडा लगी हुयी न हो। जलने पर लकड़ी दुर्गन्ध और अपना धुआँ न दे। लकड़ी राख में परिवर्तित होने वाली हो, कोयला बनने वाली न हो।

यज्ञ की समिधाओं में ढाक, (पलाश, खाँकरा) फल्गु, वट, पीपल, विकङ्कत, गूलर, चन्दन, सरल, देवदारु, शाल, खौर, काकप्रिय, बड़, पिलखन, पीतदारु, शमी, आम, बिल्व आदि को उत्तम माना गया है।

ढाक (पलाश) - ढाक सुविधा से जलती है। अग्निदीपक और वीर्यवर्द्धक है। गुदा के रोग, सङ्ग्रहणी तथा कृमिनाशक है। भावप्रकाश के अनुसार ढाक के बीजों को शहद में मिलाकर आँत के कीड़े निकालने की औषधी बनाई जाती है। इसके पत्ते फोड़े-फुन्सियों को नष्ट करने के लिए प्रयोग किए जाते हैं।

पीपल (पिप्पल, बोधिद्रुम) - पीपल को पवित्र माना जाता है। यह दाह, कफ, पित्त, विष तथा रक्तविकार नाशक है। इसके बीजों का चूर्ण श्वासरोग में लाभदायक है।

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

बड (वट) - बड शीतल, भारी तथा कसैला होता है। कफ, पित्त, वमन एवं ज्वर में लाभदायक है। कान्ति बढ़ाता है। इसका दूध अत्यन्त बलवर्द्धक है। इसके दूध को बताशे में रखकर सेवन करने से प्रमेहरोग दूर हो जाता है।

गूलर (उदुम्बर, हेमदुग्धक) - गूलर कफ, पित्त तथा रक्तविकार को ठीक करता है। हड्डी को जोड़ने वाला तथा वर्ण को उत्तम करने वाला है।

आम (आम्र) - आम का बौर शीतल तथा रुचिकारक है। यह कफ, पित्त, रक्तविकार तथा प्रमेह का नाश करता है। इसके पत्तों का धुआँ कुकुर खाँसी को नष्ट करता है। यूनानी-मतानुसार आम की छाल रक्तस्राव को बन्द करने वाली, वमन और अतिसार-नाशक है।

चन्दन (चन्दन) - सर्वोत्तम चन्दन देखने में ऊपर से सफेद, गाँठदार, काटने में लाल, पीसने में पीला तथा स्वाद में कड़वा होता है। यह कफ, तृषा, पित्त, रुधिरविकार और दाहनाशक है। चन्दन की लकड़ी के बने सन्दूकों में रखी हुई वस्तुओं को कीड़ा नहीं लगता। यज्ञ में प्रायः इसका चूरा ही डाला जाता है। सफेद चन्दन का तेल सुजाक (आतशक) में लाभदायक है।

अशोक (अशोक) - अशोक शीतल, कान्तिवर्द्धक, मलरोधक, हड्डी को जोड़ने वाला तथा कृमिनाशक है। शूल, उदररोग, पित्त, श्रम, दाह, तृषा, अपच, विष और रुधिर-विकारों को दूर करता है। बसु और कीर्तिकर^४ ने इसकी छाल को कृमि, तृषा और ज्वरनाशक, अपच को दूर करने वाली, शूल और बवासीर में लाभदायक माना है।

अतः यज्ञ में प्रयोग की जाने वाली लकड़ियाँ अत्यन्त गुणशाली हैं। विभिन्न रोगों का नाश करती हैं। इसलिए जहाँ लकड़ी जलने पर गर्मी उत्पन्न करती है वहाँ कई लाभदायक पदार्थ भी बनाती है। इनकी रासायनिक बनावट की चर्चा कीर्तिकार तथा बसु,^५ डिमोर्क^६ व चोपड़ा^७ ने अपने ग्रन्थों में की है।

पर्यावरण एवं स्वास्थ्य

आज जल, वायु, अन्न, मिट्टी... कुछ भी शुद्ध नहीं है। प्रदूषण इतना बढ़ गया है कि अमरीका, कनाडा जैसे देशों में तेजाबी वर्षा एक प्रमुख समस्या बन गई है। समस्त संसार पर्यावरण-प्रदूषण से चिन्तित है। अपने कर्तव्य का सुचारु-रूप से पालन करती हुई प्रकृति वायु के शोधन में अवश्य महत्त्वपूर्ण योगदान करती रही है, अन्यथा अब तक वायुमण्डल इतना प्रदूषित हो गया होता कि श्वास

^४ K.R. Kirtikar and B.D. Basu, Indian Medicinal Plants, Vol. I-II, Bishen Singh Mahendra Pal singh New Connaught Place, Dehradun (1984)

^५ K.R. Kirtikar and B.D. Basu, Indian Medicinal Plants, Vol. I-II, Bishen Singh Mahendra Pal singh New Connaught Place, Dehradun (1984)

^६ W. Dymock, C.G.H. Warden and D. Hooper, Pharmacographia Indica, Vol. I-III, Thacker, Spink & Co., Calcutta (1890-91)

^७ R.N. Chopra, I.C. Chopra, K.L. Handa and L.D. Kapur, Indigenous Drugs of India, Dhur and Sons, Calcutta (1958)

लेना दूभर हो जाता। अग्निहोत्र उस महान् प्रभु द्वारा रचाए गए इस महान् प्राकृतिक यज्ञ का ही एक रूप है। इसके द्वारा वायु की दुर्गन्ध नष्ट होकर सुगन्ध फैलती है। वेद यज्ञ को वायु की शुद्धि का हेतु मानता है -

वसोः पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम्।^८

यज्ञ असङ्घात संसार एवम् अनेक प्रकार के ब्रह्माण्ड को धारण करने वाला तथा शुद्धि करने वाला कर्म है। इसलिए शास्त्रकारों ने प्रतिदिन यज्ञ करने का विधान किया है। मनु (२,१०३) ने यज्ञ न करने वालों को दण्ड का भागी माना है। यजुर्वेद (१,२) भी यज्ञ का त्याग न करने का स्पष्ट आदेश देता है—

वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधा असि।

परमेण धाम्ना दृहस्व मा ह्यर्मा तै यज्ञपतिर्हार्षिता।

इस मन्त्र का अर्थ करते हुए ऋषि दयानन्द लिखते हैं, “हे विद्यायुक्त मनुष्य ! तू जो यज्ञ-शुद्धि का हेतु है, जो विज्ञान के प्रकाश का हेतु और सूर्य की किरणों में स्थिर होने वाला है, जो वायु के साथ देश-देशान्तर में फैलने वाला है, जो वायु को शुद्ध करने वाला है, जो संसार को धारण करने वाला है तथा जो उत्तम स्थान के सुख को बढ़ाने वाला है, इस यज्ञ का मत त्याग कर। तेरे यज्ञ की रक्षा करने वाला यजमान भी उसको न त्यागे।”^९

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ को वायुशुद्धि का सर्वोत्तम साधन माना है। इसीलिए यजुर्वेदभाष्य में ऋषि लिखते हैं, “जैसी यज्ञ के अनुष्ठान से वायु और वृष्टि जल की उत्तम शुद्धि और पुष्टि होती है, वैसी दूसरे उपाय से कभी नहीं हो सकती।”^{१०}

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने २० जुलाई, १८७५ को पुणे में सातवें प्रवचन में कहा था— “पुष्टि-वर्धन, सुगन्ध-प्रसार और नैरोग्य ये तीन उपयोग होम अर्थात् हवन करने से होते हैं।” “सुवृष्टि और वायु-शुद्धि होम, हवनादि से होती है, इसीलिए होम करना चाहिए।” “पहले आर्य लोगों का ऐसा सामाजिक नियम था कि प्रत्येक पुरुष प्रातःकाल स्नान के बाद आहुति देता था, क्योंकि प्रातःकाल में जो मल-मूत्रादिकों की दुर्गन्ध उत्पन्न होती थी, वह इस प्रातःकाल के हवन से दूर होती थी। इसी तरह सायंकाल में हवन करने से दिन भर की जमी हुई जो दुर्गन्ध होती है उसका नाश होकर रात भर वायु निर्मल और शुद्ध चलती थी।”

“इन दिनों होम के न्यून होने से बारम्बार वायु बिगड़ रही है, सदा विलक्षण रोग उत्पन्न होते जाते हैं।” भौतिकविज्ञान भी ऋषि दयानन्द के इन विचारों का समर्थन करता है। हवन से कई वाष्पशील तैल

^८ यजु. १.३

^९ ऋषि दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाषाभाष्य, दयानन्द संस्थान, दिल्ली

^{१०} उपरिलिखित; तुलना ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदविषयविचारः, पृष्ठ ४१

तथा उत्तम गैसों पैदा होती हैं। वे वायु के साथ सर्वत्र फैलकर मलिनता को नष्ट कर सुगन्ध फैला देती हैं।

यज्ञ न केवल वायु की दुर्गन्ध को नष्ट करता है, अपितु इसे शुद्ध कर रोगों से भी रक्षा करता है। महर्षि दयानन्द^{११} का यह विचार पूर्णतया सत्य है कि “दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और रोग के नष्ट होने से सुख प्राप्त होता है।” ऋषि आगे लिखते हैं, “जब तक इस होम करने का प्रचार रहा, तब तक आर्यावर्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाए।” अतः समझना चाहिए कि प्राचीन आर्य लोग अग्निहोत्र द्वारा वायुशुद्धि तथा आरोग्य प्राप्त किया करते थे।

वैसे तो भारत में प्रत्येक कार्य करने से पूर्व हवन किया जाता है, किन्तु ऋतु-परिवर्तन (ऋतुसन्धि) के समय विशेष-रूप से बृहद् यज्ञों का प्राचीनकाल से ही प्रचलन में रहा है। इसका कारण यह है कि ऋतु सन्धि अनेक रोग उत्पन्न करती है। इन व्याधियों का निवारण भौषज्य यज्ञों के द्वारा होता है। शतपथब्राह्मण में इसकी पुष्टि हो गई है -

भौषज्या वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्माद्ऋतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।।

“ये भौषज्य यज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए इनका प्रयोग ऋतुसन्धि में होता है।”^{१२}

भारतीय घरों में नया अन्न अग्नि में अर्पित किए बिना प्रयोग में नहीं लाया जाता था। प्रत्येक ऋतु में उस ऋतु के पदार्थों द्वारा यज्ञ करने की प्रथा रही है। सम्भवतः विशेष मौसम में उत्पन्न होने वाले पदार्थ उस ऋतु-सन्धि के रोगों को दूर करने में अधिक उपयोगी हैं। इस प्रकार के यज्ञों की चर्चा भावप्रकाश (कृतान्न वर्ग १७८) में भी की गई है—

अद्धपक्वैः शमीधान्यैस्तुणभृष्टैश्च होलकः।

होलकोऽल्पानिलो मेदः कफदोषश्रमापहः॥

भवेदथो होलको यस्य स तत्तद् गुणो भवेत्।

अर्थात् ‘तिनकों की अग्नि में भूने हुए अधपके शमी धान्य (फली वाले अन्न) को होलक या होला कहते हैं। होलक स्वल्पवात है और चर्बी, कफ तथा थकान के दोषों का शमन करता है। जिस-जिस अन्न का होला होता है, उसमें उसी-उसी अन्न का गुण होता है।’

हवन के द्वारा रोगों का नाश किया जाना सम्भव है। ये रोग किस प्रकार उत्पन्न होते हैं तथा अग्निहोत्र से कैसे नष्ट हो सकते हैं ? इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। आधुनिक पाश्चात्य-विज्ञान का मत है कि व्याधियों के जन्मदाता रोगाणु (रोगकीट, कृमि) हैं। रोगाणुवाद के लिए किसी व्यक्ति

^{११} ऋषि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास

^{१२} तुलना; गोपथब्राह्मण (२,१,१२)

विशेष को श्रेय नहीं दिया जा सकता। यूँ तो आरम्भिक कार्य पाश्चर्य द्वारा किया गया था, परन्तु इस क्षेत्र में राबर्ट कौच, स्मिथ, किलबोर्न आदि का योग भी महत्त्वपूर्ण है। कौच ने सन् १८७८ में यह सिद्ध किया था कि प्रत्येक बीमारी किसी न किसी रोगाणु के द्वारा ही पैदा होती है। यह रोगकीट भिन्न-भिन्न प्रकार के तथा बहुत छोटे होते हैं। इनमें से कई तो अतिक्षुद्र होने से दिखाई भी नहीं देते। ये साधारणतया ०.००३ से ०.००५ मिलीमीटर तक लम्बे होते हैं, परन्तु कई रोगाणु काफी बड़े होते हैं। छोटे से छोटे रोगकीट ०.०००२५ मिलीमीटर लम्बे होते हैं। ये अँधेरे में बढ़ते हैं। बैसिलस कॉली नामक एक कृमि लगभग बीस मिनट में टूटकर दो कृमि उत्पन्न कर देता है। फिर ये कृमि भी इस प्रकार विभक्त होते रहते हैं। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो यह अकेला कृमि केवल आठ घण्टे में एक करोड़ साठ लाख कृमि उत्पन्न कर देगा। यदि रोगाणु इसी गति से बढ़ते रहते तो समस्त भूमण्डल पर केवल कृमि ही कृमि होते, परन्तु ऐसा हुआ नहीं, क्योंकि परिस्थितियाँ अनुकूल न होने के कारण एक, दो दिन में तो क्या एक सप्ताह में भी बहुत कम बढ़ पाते हैं। ये रोगकीट जल, वायु तथा अन्न के साथ शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं और फिर धीरे-धीरे बढ़ते रहते हैं तथा व्यक्ति को रोगी बना देते हैं। अतः व्याधियों की रोकथाम इन रोगाणुओं को नष्ट करके ही सम्भव हो सकती है।

यह हुआ आधुनिक-विज्ञानवादियों का मत। प्राचीन ऋषियों का सर्वस्व तो वेद तथा वैदिक-साहित्य ही था। उसी आधार पर उन्होंने अग्निहोत्र का आविष्कार किया। समिधाओं तथा हव्य-पदार्थों का चयन भी किया। इसलिए केवल रोगोत्पत्ति के आधुनिक कारण को ही आधार मानकर यज्ञ पर विचार करना उचित नहीं होगा। अतः विचारणीय विषय है - रोगों का वेद में वर्णित कारण। वेद भी रोगाणुवाद को मानता है।

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं मथो पाष्ट्यं क्रिमीन्।

अवस्कव व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि।। (अथर्व. २,३१,४)

“आँतों में उत्पन्न होने वाले विषूचिका के कीट, शिरोभाग में उत्पन्न होने वाले दाद और पीनस-रोग के उत्पादक तथा पसलियों में उत्पन्न होने वाले नासूर या राजयक्ष्मा आदि रोग के कीट, (अवस्कव) त्वचा के भीतर घुस जाने वाले रोगकीट और विकृत माँस को खाने वाले व्यध्वर नामक रोगकीट को वेदवाणी में बतलाये उपायों द्वारा नष्ट करें।” इस मन्त्र में भिन्न-भिन्न रोगों की उत्पत्ति रोगाणुओं के द्वारा बतलाई गई है। इन रोगाणुओं की कुछ अन्य जातियों का वर्णन निम्नलिखित मन्त्र में किया गया है -

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्। अल्गण्डुन्तसर्वान्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि।।

(अथर्व. २,३१,२)

अर्थात् “दृश्य तथा अदृश्य और (कुरूरु) बुरी तरह रुलाने वाले, (अल्गण्डू) अत्यधिक खाज पैदा करने वाले तथा (शलुन) शरीर में प्रवेश कर जाने वाले रोगकीटों का वेदवाणी में बताये उपायों द्वारा नाश करें।”

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

ये मन्त्र रोगाणु सम्बन्धी कई रहस्यों का उद्घाटन कर रहे हैं। इन मन्त्रों में अवस्कव, व्यध्वर, कुरूरु, अल्गण्डू तथा शलुन आदि जो शब्द आए हैं, वे रोगकीटों की जातियों के नाम हैं। इन नामों से कृमियों के स्वभावों का पता चलता है।

वेद ने रोगकीट को राक्षस की सज्जा भी दी है। ऋग्वेद (१०,९७,६) में राक्षसों को मारने वाले को वैद्य तथा रोगों को दूर करने वाला कहा गया है -

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।

विप्रः स उच्यते भिषग्प्रक्षोहाऽमीवचातनः ॥

अर्थात् “जिसके पास अनेक औषधियों का सङ्ग्रह होता है, उस विप्र को भिषग् (चिकित्सक) कहते हैं। वह राक्षसों का हनन करने वाला तथा रोगों को दूर करने वाला होता है।” इस मन्त्र का बुद्धिसङ्गत अर्थ करने के लिए राक्षस को रोगाणु का पर्यायवाची मानना पड़ता है। वनस्पतियों द्वारा विशालकाय राक्षसों का मारा जाना सम्भव नहीं है, अन्यथा राक्षसों के साथ हुए युद्धों के वर्णनों से इतिहास के पन्ने भरे हुए न होते। वनस्पतियों से जिन राक्षसों का वध होता है, वे दृश्य एवम् अदृश्य रोगाणु ही हैं।

रोगाणुओं के निवासस्थान की चर्चा निम्नलिखित मन्त्र में की गई है -

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः।

ये अस्मार्क तन्वमाविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ (अथर्व. २,३१,५)

“जो रोगजनक कृमि पर्वतों, वनों, औषधियों, पशुओं और पीने योग्य जलों में रहते हैं तथा जो हमारे शरीर में अन्न और जल के साथ जाते हैं - उन सबका मैं नाश करूँ।”

रोगाणु भोजन आदि के द्वारा शरीर में प्रविष्ट हो जाते हैं-

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबन्तो जनान् ॥ (यजु. १६,६२)

“जो खाने के अन्न तथा पीने के पानी द्वारा शरीर में प्रवेश करके नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं।” वेद यज्ञ के द्वारा कृमियों का नष्ट हो जाना सम्भव मानता है। यजुर्वेद (१,१९) में कहा है -

शर्मास्यवधूत ३ रक्षोऽवधूताऽअरांतयोऽदित्यास्त्वर्गसि प्रति त्वादितिर्वेत्तु।

कई रोगाणुओं के नाम भी इस बात का प्रमाण हैं कि उनका नाश यज्ञ के द्वारा हो सकता है, उदाहरणार्थ - यज्ञघ्न रोगकीटों की एक जाति है तथा यज्ञघ्न का शाब्दिक अर्थ है - वे रोगकीट जिनकी यज्ञ से मृत्यु हो जाए। अथर्ववेद (२,३१,४) में कृमियों की एक अन्य जाति को व्यध्वर (वि+अध्वर अर्थात् यज्ञ का विरोधी) नाम से कहा गया है। इसीलिए सातवलेकरजी लिखते हैं, “यज्ञ जहाँ न होंगे उस स्थान पर उत्पन्न होकर वृद्धिगत होने वाले अथवा यज्ञ से जिनका नाश होता है, ऐसे कृमियों को व्यध्वर कृमि बोलते हैं।”

हवन सूर्य के प्रकाश में किया जाता है। रवि-किरणों तथा यज्ञाग्नि दोनों कृमिनाशक हैं। रोगकीट अधिक गर्मी में जीवित नहीं रह सकते।

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।

ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति ॥ (अथर्व. ५.२३.१)

अर्थात् “सूर्य की किरण, मिट्टी, तीव्र वाणी या जलधारा, बिजली, अग्नि ये सब मिलकर नाना प्रकार के रोगकीटों का नाश करते हैं।”

उप प्रागहिवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः।

दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ (अथर्व. १,२८,१)

इस मन्त्र का अर्थ श्रीयुत सातवलेकरजी ने इस प्रकार किया है - “यातुधान, किमीदिन तथा राक्षस (ये तीनों रोगकीटों की जातियों के नाम हैं) इनका नाश करने वाला तथा रोगनाशक अग्निदेव आता है।” अग्नि तो कृमियों का नाश करने के लिए प्रसिद्ध है। अग्नि में भोजन का विष नष्ट करने की शक्ति है।

अग्नेऽदभ्यायोऽशीतम पाहि मां दिद्यौः पाहि प्रसित्यै।

पाहि दुरिधौ पाहि दुरस्रन्याऽविषं नः पितुं कृणु। (यजु. २,२०)

अर्थात् “हे निर्विघ्न आयु देने वाले जगदीश्वर ! आप चराचर संसार में व्यापक यज्ञ को दुष्ट अर्थात् वेदविरुद्ध यज्ञ से रक्षा कीजिए, अति दुःखों से बचाइए तथा भारी-भारी बन्धनों से अलग रखिए, जो दुष्ट भोजन करना है, उस विपत्ति से बचाइए और हमारे लिए विष आदि दोषरहित अन्नादि पदार्थ उत्पन्न कीजिए।”

केवल अग्नि में ही रोगाणुनाशक शक्ति हो, ऐसी बात नहीं है। यह गुण कई वनस्पतियों में भी है।

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचौ अपबाधमानः। (अथर्व. १२,३,१५)

“दिव्य गुणों से युक्त वनस्पति आ गई, जो राक्षसों और पिशाचों का नाश करती है।”

अजशृङ्गी रक्षः सर्वाङ्गन्धेन नाशय ॥ (अथर्व. ४,३७,२)

अर्थात् “अजशृङ्गी नामक औषधि के गन्ध से सभी राक्षस अर्थात् रोगकीट नाश को प्राप्त होते हैं।” विद्वानों ने अजशृङ्गी को बहुत गुणकारी माना है। चतुर्वेदभाष्यकार पण्डित जयदेव लिखते हैं कि यह वातहर, कास, श्वास, राजयक्ष्मा, वमन, तृषा, अरुचि, अतिसार, चक्षुर्दोष, हृदयरोग, अतिकुष्ठ आदि का नाश करती है। इसके जलने से तीक्ष्णगन्ध पैदा होती है। मच्छर आदि भाग जाते हैं।

अथर्ववेद (४,१०,२) में कहा है—

यो अग्रतो रौचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे।

शङ्खेन हत्वा रक्षास्यत्त्रिणो विषहामहे ॥

अर्थात् “...शङ्ख के द्वारा राक्षसों का नाश होता है।”

यज्ञ-सामग्री में वनस्पतियाँ कूटकर डाली जाती हैं। उनके जलने से सुगन्ध उत्पन्न होती है। उस गन्ध से कृमि मर जाते हैं। जहाँ औषधि से व्यक्ति-विशेष को ही लाभ होता है, वहाँ अग्निहोत्र से समस्त वातावरण शुद्ध हो जाता है। फिर व्याधि पुनः आक्रमण नहीं कर पाती। अतः स्वास्थ्य-लाभ की यह उत्तम विधि है।

वेद यज्ञ द्वारा रोगों की चिकित्सा होना सम्भव मानता है -

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ (अथर्व. ३,११,१)

पर्यावरण और यज्ञविज्ञान

“हे व्याधिग्रस्त मनुष्य ! तुझे सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कराने के लिए हवन द्वारा अज्ञात रोगों से तथा तपेदिक जैसे ज्ञात रोग से बचाता हूँ। इसे सब अङ्गों को जकड़ने वाला रोग भी पकड़ ले तो भी इन्द्र अर्थात् शुद्ध वायु या सूर्य की गर्मी या विद्युत् तथा अग्नि-होमाग्नि इसे उक्त रोग से मुक्त करें।”

ऋषियों ने वेदमन्त्रों में छिपे इन गहन रहस्यों को समझा था। वे यज्ञों के द्वारा राष्ट्र को स्वस्थ करते थे। सम्भवतः यही कारण था कि यदि एक राष्ट्र के द्वारा दूसरे देश को हानि पहुँचानी होती थी, तो वह उस देश के यज्ञों में विघ्न डालने का प्रयास किया करता था। यज्ञ की व्यवस्था भङ्ग हो जाने से अनावृष्टि तथा रोग फैल जाते थे, समस्त देश दुःखी हो जाता था। इसीलिए ऋषियों के द्वारा रचाए गए यज्ञों की रक्षा करना राजा का मुख्य कर्त्तव्य समझा जाता था।

इस प्रकार यज्ञ से न केवल शरीर-आत्मा और वातावरण शुद्ध होता है अपितु वेद की रक्षा भी श्रुति पर आधारित रहती है। संस्कृति और संस्कारों से व्यक्ति जुड़ा रहता है। यज्ञ-समिधाओं हेतु अनेक वृक्षारोपण भी अत्यन्त आवश्यक हो जाता है जो वातावरण की शुद्धि और वृष्टि, अन्न, धन-धान्य का प्रमुख स्रोत भी है। यज्ञ से पशुधन को भी बढ़ावा मिलता है। यज्ञ के माध्यम से मनुष्य आन्तरिक और बाह्य-रूप से समृद्ध होता है।

॥ यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म ॥

डॉ. पूनम

पूर्वशोधच्छात्रा, हिन्दी-विभाग
गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार